अध्याय 1 :

प्रशस्ति काव्य : स्वरूप एवं भेद

काव्य साहित्य का ललित अंग है। अपने स्वरूप में यह मनुष्य की कलागत उपलब्धियों में श्रेष्ठ माना गया है। वाक्यकार रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं - वाक्यं रसात्मकं काव्यम्[1]। यह रसात्मक काव्य की सृष्टि का भाव कवि हृदय में आन्तर अवसाद और आत्मोल्लास से जागृत होता है। विश्व प्रपंच के बीच अपनी शक्ति के वैराट्य वैभव, ऐश्वर्य और निःशेष परितोष वृत्ति के कारण परात्पर प्रभु जगत नियन्ता अथवा सृष्टि का शासक माना गया है। भारतीय संस्कृति में लौकिक व्यवस्था के विचार से प्राचीन मनीषियों ने राजा को ईश्वर का अंश स्वीकारा है। संयोग से तत्कालीन वर्ण व्यवस्था के बीच राजन्य वर्ग के रूप में भारतीय धरा धाम पर क्षत्रियों का ही शासक रूप प्रचलित रहा। कहने का तात्पर्य यह कि लौकिक शासक के रूप में राजपुत्र और अलौकिक तथा परम नियन्ता के रूप में अदृश्य ईश्वरीय शक्ति को स्वीकार करके भारतीय मेधा ने सार्वभौम व्यवस्था की नींव डाली थी। शासकीय व्यवस्था के इन प्रतीकों का गायन करना कवि के आत्माह्लाद और आत्मोल्लास का भी धर्म हो गया। जिस विराट् सत्ता की कृपा दृष्टि से प्रजापालक राजा अपने युग में मानव धर्म, प्रजा वर्ग के सुख, लोकरक्षा के पन्थ को प्रशस्त करता है, उस राजा और उस ईश्वर की महिमा की अनुभूति एवं उसकी अभिव्यंजना करना सदा रुचि वाले कवि के लिए परम स्वाभाविक है। काव्य में प्रशस्ति के आगमन का यही मूल कारण है।

भारतीय साहित्य में प्रशस्ति काव्य के अंकुरण के विचार से विद्वान वैदिक साहित्य में इसके बीजभाव को अनुमानते हैं। लोगों का विचार है कि वैदिक बीज से प्रशस्ति गीति एवं प्रशस्ति काव्य का विकास हुआ है। प्रशस्ति गीति में किसी लौकिक व्यक्ति की प्रशस्ति गायी जाती है। वैदिक देवताओं की स्तुतियों में लोकनायकों की प्रशस्तियों के संकेत देखे जा सकते हैं। गौरव गीति वीरों के प्रचुर उत्तराधिकारि-

---

1. आचार्य विश्वनाथ: साहित्य दर्पण: पृ०-१९

है क्योंकि इसमें देवताओं के गौरव की गाथा गायी गयी थी किन्तु बाद में मानवों की गौरव गीति-[1] गायी गयीं क्योंकि उन्होंने देवत्व लाभ किया[1]। इस उक्ति से स्पष्ट है कि गौरव गीति और प्रशस्ति काव्य के अलौकिक और लौकिक दो भेद हैं ।

व्युत्पत्ति एवं व्याख्या :-

ऊपर की पंक्तियों में दिए गए संकेतों के आधार पर यह स्वतः स्पष्ट है कि प्रशस्ति काव्य वह काव्य है जिसमें शासक के प्रकर्ष के प्रति महनीयता की अनुभूति करते हुए उसकी वीरता, शौर्य, प्रजा पालकता, न्यायप्रियता, ऐश्वर्य-सम्पदा आदि की गौरवशालिनी परम्पराओं का मुक्त कण्ठ से गान किया जाता है । सच बात तो यह है कि प्रशस्ति का आलम्बन प्रकर्ष का अनुधावन करने वाला कुशल शासक ही हो सकता है । यह बात और है कि आश्रित कवियों ने आश्रयदाता के आचरण की विवेचना न करते हुए उसका अन्धाधुन्ध गुणगान कर डाला हो । किन्तु प्रशस्ति का अधिकारी राज्य में योग और क्षेम की नींव डालने वाला राजा ही हो सकता है । इस प्रकार की योग्यता रखने वाले राजा और राजवंश की विरुदावली बखानने वाला काव्य प्रशस्ति काव्य है । ईश्वरीय महिमा और उसके उपकार से उपकृत होकर लिखी गई अलौकिक प्रशस्ति, जिसे स्तोत्र काव्य कहना ही उचित होगा, सर्वत्र एक समान है । हिन्दी साहित्य के संदर्भ में सामान्यतया विद्वानों ने राजवंशों की यशगाथाओं को ही प्रशस्ति माना है किन्तु इस पदार्थ की व्याख्या और उसके अर्थ की व्यापकता में समग्र राज्य व्यवस्था, ईश्वरीयता, देवी देवता आदि सबके प्रति होने वाली गौरवानुभूति का गान प्रशस्ति काव्य ही है ।

सीमित एवं व्यापक अर्थ :- प्रशस्ति काव्य के सीमित और व्यापक अर्थ का क्रमशः सुव्याख्या और विकास एक ऐतिहासिक क्रम से जुड़ा हुआ है । इस ऐतिहासिक कलेवर पर दृष्टिपात करने से प्रशस्ति की परम्परा और उसके क्रमशः विकसित रूप का चित्र सामने आ जाता है । 'समुद्रगुप्त (राज्य काल 330 - 375 ई०) सम्बन्धी हरिषेण विरचित प्रशस्ति काव्य प्रयाग के प्रस्तर स्तम्भ पर उत्कीर्ण है, इसके प्रथम चार चरण पूर्णतया नष्ट हो गए हैं । तीसरा छन्द स्रग्धरा है - (स) स्राध्य - श्री विरोधान्मुख गुणित - गुणाज्ञा - प्रतानित पृथ्वी :— (वि) दर्पे के (S) वि (ना) (शि) स्फुट बहु-कविता - कीर्ति - राज्यं भुनक्ति ।'

1- हिन्दी साहित्य कोश : भाग 1 : द्वितीय संस्करण : पृष्ठ संख्या 534

प्रशस्ति काव्य के कवि राजाश्रित होते थे । लोक भाषाओं को राजसभाओं में जब स्थान मिलने लगा तो प्रशस्ति गीति का अधिक प्रचलन हुआ । राष्ट्रीय नेताओं की प्रशंसा में अनेकानेक प्रशस्ति-गीतियाँ लिखी गयीं और भारत भूमि के गौरव की गाथा गौरवगीतियों में गायी गयीं[1]।

उक्त वक्तव्य के आलोक में प्रशस्ति काव्य के क्षेत्र का क्रमिक विकास निरूपित है । पहले प्रशस्ति काव्य राजाओं की यश गाथा में ही परिसीमित था किन्तु राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों में प्रतिबिम्बित परिवर्तनों के समानान्तर प्रशस्ति काव्य का क्षेत्र भी व्यापक होता गया है । आज हम प्रशस्ति काव्य के जिस चित्र और आकार का दर्शन करते हैं उसमें ईश्वर, देवी-देवता, राजा-रानी, राष्ट्रीय नेता तथा अन्य सुख्यात व्यक्तियों की वीरता, यश, दानशीलता, सुन्दरता, सम्पदा, पौरुष, परोपकार आदि गुणों, लोकरक्षा और लोकपालन से सम्बन्धित सभी विशिष्ट उपलब्धियों का गान पाया जाता है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्रशस्ति काव्य का यही व्यापक अर्थ ग्राह्य है ।

ख • किसी काल खण्ड में रचे जा रहे साहित्य की धारा को जहाँ तत्कालीन जीवन मूल्यों से प्रभावित होना पड़ता है वहीं [illegible] साहित्यकार को अतीत का अन्वीक्षण भी करना पड़ता है । अतीत-अन्वीक्षण की इस प्रक्रिया में पूर्ववर्ती काव्य की परम्पराएँ और मान्यताएँ प्रभावित होती हैं । इस तथ्य को स्वीकार लेने से हिन्दी के आदिकालीन प्रशस्ति काव्य की पूर्ववर्ती संस्कृत आदि काव्यों की परम्परागत प्रशस्ति का सिंहावलोकन कर लेना भी आवश्यक हो जाता है । मानवीय जीवन और तत्संबद्ध जीवन से जुड़े हुए साहित्य की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपने वर्तमान का अतीत की पृष्ठभूमि में शोध करे । यहाँ यह भी विचारणीय है कि चरितकाव्यों की समान शैली पारलौकिक सत्ता की समान उपासना कालान्तर में अलग होकर भी किसी न किसी रूप में प्रवृत्तिगत सम्बन्ध बनाए रही होगी । संस्कृत साहित्य की परवर्ती काव्य की विविध विधाओं में अपने ढंग की प्रशस्ति का स्थापन हुआ है ।

संस्कृत के ऐतिहासिक चरितकाव्यों की वस्तु-भूमि का विवेचन करते हुए काव्य में इतिहास की अनिवार्यता स्वीकार कर यह माना गया है कि "निश्चय ही इतिहास पर ग्रन्थ लिखे जाते रहे होंगे, जैसे कि राजाओं की प्रशस्तियाँ और शिलालेख । चाटुकारिता

1- हिन्दी साहित्य कोश: भाग 1 : संस्करण 2 : पृष्ठ संख्या 534

एवं परमुखापेक्षिता के अवर युग में शिलालेख और प्रशस्तियाँ बच रहीं, विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ चल बसे - वे नष्ट हो गये । आज (संस्कृत की) जो साहित्यिक रचनाएँ हमारे सामने हैं वे तो मुख्यतया साहित्यिक हैं ऐतिहासिक नहीं । उनमें कवियों की प्रातिभ कल्पनाओं का प्रपञ्चन है, अतिरञ्जन है, समग्र ग्रन्थ पढ़कर भी प्रसंगगत महानुभावों के जीवन की दो चार घटनाएँ ही हाथ लग पाती हैं[1]।" डा० सूर्यकान्त के इस वक्तव्य से वे ही बातें प्रकाश में आती हैं जिनकी हमने ऊपर सम्भावना की है । निश्चित ही ऐतिहासिक ग्रन्थ चरितकाव्य के रूप में लिखे गए हैं । यही नहीं संस्कृत महाकाव्य, कथा और आख्यायिका साहित्य, नाटक आदि सभी प्रकार के साहित्यांग में प्रशस्ति का स्वर अनुगुंजित है । यहाँ तक कि "पुराणों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का चित्रण, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख, प्राचीन राजाओं की प्रशस्तियों तथा अभिलेखों में ऐतिहासिक तथ्यों का विवरण और काव्यों में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक भावना के आत्यन्तिक अभाव का निराकरण करने के लिए पर्याप्त है[2]।"

संस्कृत साहित्य के विविध रूपों में प्रशस्ति के स्वरूप का सिंहावलोकन करने से पूर्व आदिकालीन हिन्दी की देवी या पारलौकिक प्रशस्ति को समझने के लिए पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में पाये जाने वाले एक सशक्ततम आधार - स्तोत्र साहित्य की ओर ध्यान आकृष्ट कर लेना आवश्यक प्रतीत हो रहा है ।

संस्कृत का स्तोत्र साहित्य एवं उसका आदिकालीन हिन्दी प्रशस्ति पर प्रभाव -

आदिकालीन अपभ्रंश की साधनात्मक रचनाओं में जिस पारलौकिक सत्ता की ओर झुकाव देखा जाता है उसकी बहुत कुछ व्यंजना प्रशस्ति मूलक ही है । इस स्तोत्र या प्रशस्तिमूलक आदिकालीन अपभ्रंश काव्य की विशेष दिशा पर संस्कृत के स्तोत्र साहित्य का प्रभाव है । संस्कृत के आदिकालीन रामायण एवं महाभारत काव्यों की देव स्तुतियों वाली प्रशस्ति परम्परा लौकिक कवि कालिदास, भारवि, माघ आदि को प्रभावित करती है और इसके समानान्तर ही हम बौद्ध एवं जैन साहित्य में

1- डा० सूर्यकान्त : संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास : पृष्ठ - 260

2- वही : पृष्ठ - 260

भी इसका अस्तित्व देखते हैं । किन्तु बौद्ध तथा जैन स्तोत्रों में अपने उपास्य देवों का वैदिक धर्म के भगवान एवं देवताओं के साथ तादात्म्य नहीं प्रदर्शित किया गया है, वरन् अपने उपास्य देवों को उनसे बढ़कर दिखाया है[1]। मातृचेट, महर्षि कुन्तल और हरिश्चन्द्र की चित्रद्युति, पुष्पदन्त गन्धर्वराज का शिवमहिम्न स्तोत्र, आचार्य समन्तभद्र का स्वयंभू स्तोत्र, सिद्धसेन दिवाकर का कल्याण मन्दिर स्तोत्र, बाण का चण्डीशतक, मानतुंग का भक्तामर स्तोत्र, हर्षवर्धन का सुप्रभात स्तोत्र और अष्टमहाश्रीचैत्य स्तोत्र, मयूर का सूर्यशतकम् आदि अनेक स्तोत्र रचनाएं हैं[1]। हिन्दी का प्रशस्तिकाव्य इसकी परम्परा से प्रभावित है। इसके अतिरिक्त लौकिक संस्कृत में विरुद प्रशस्ति, गौडोर्वीशकुल प्रशस्ति तथा शिवशक्ति सिद्धि आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने विरुद प्रशस्ति को ऐतिहासिक ग्रन्थ माना है इसमें जयचन्द के पिता विजयचन्द्र की प्रशंसात्मक प्रशस्ति लिखी गयी है। गौडोर्वीशकुल प्रशस्ति में गौड़ अर्थात् बंगाल के राजा की प्रशंसा की गयी है। शिवशक्ति में शिव और शक्ति की प्रशस्ति का गायन है। इसी कोटि में विरुद नामक वैसो राजा के विषय में लिखी गई विरुद प्रशस्ति का भी उल्लेख किया जाता है। नवसाहसांकचरितम् इस कोटि की रचनाओं में अपना प्रमुख स्थान रखता है। नवसाहसांक राजा भोज के पिता सिन्धुराज की विरुदावली बखानने वाला काव्य है। पद्मगुप्त ने नवसाहसांक नामक महाकाव्य में सिन्धुराज के ही चरित का बखान किया है[2]।

जहाँ तक संस्कृत के स्तोत्र साहित्य का सम्बन्ध है उसकी एक सुनियोजित परम्परा पायी जाती है। "संस्कृत का स्तोत्र साहित्य अत्यन्त ही विशाल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है। इसमें भक्त कवियों ने अपने हृदय की दीनता कोमलता और भगवान की उदारता का वर्णन किया है। इस प्रकार के स्तोत्र साहित्य में शिवमहिम्न स्तोत्र, बाणभट्ट का चण्डीशतक, शंकराचार्य द्वारा रचित विष्णु, शिव, गणपति, शक्ति हनुमान आदि नाना देवी देवताओं की स्तुतियाँ, कुलशेखर का मुकुन्दमाला, यामुनाचार्य का आलवन्दार स्तोत्र, लीलाशुक का कृष्णकर्णामृत, वेंकटाध्वरी का विष्णुगुणादर्शचम्पू, सोमेश्वर का रामशतक, मधुसूदन सरस्वती का आनन्द मन्दाकिनी, नारायण भट्ट की नारायणीय, अप्पय दीक्षित का वरदराज स्तव आदि वैष्णव स्तोत्र की सुख्यात रचनाएं हैं[3]।

1- डा० जयकिशन खण्डेलवाल : संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ : संस्करण 1 : पृष्ठ 214-…
2- आचार्य बलदेवप्रसाद : संस्कृत वाङ्मय : पृष्ठ 133-134
3- आचार्य बलदेवप्रसाद उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास : पृष्ठ 376-400 का अवलोकन करें।

संस्कृत के इस स्तोत्र साहित्य में शिवशक्ति के नामका जो उल्लेख हुआ है, उन्हीं से आगे शैव और शाक्त मत सिद्धों और नाथों की विभिन्न साधना पद्धतियों में प्रचलित होकर प्रवहमान हैं । संस्कृत स्तोत्र साहित्य में देवी-देवताओं की स्तुतियों का जो भाव है वह सन्धिकालीन हिन्दी अपभ्रंश रचनाओं - सिद्धों नाथों की कृतियों में प्र चाहे प्रज्ञापारमिता द्वारा नाम लेकर, चाहे कामरू और सिंहल के सिद्धपीठों का स्मरण करके अपनाया गया हो, सच बात तो यह है कि विवेच्य काल की अपभ्रंश रचनाओं की साधनामूलक विषय वस्तु में यह भाव है अवश्य । इसलिए यह मान लेने में कोई संकोच नहीं होता कि संस्कृत के स्तोत्र साहित्य का आदिकालीन हिन्दी के साधनात्मक साहित्य पर पारलौकिक प्रवृत्ति के रूप में प्रभाव पड़ा है ।

<u>संस्कृत के अन्य काव्यांगों की प्रवृत्ति का आदिकालीन हिन्दी काव्यों पर प्रभाव</u>

ऊपर हमने संस्कृत के स्तोत्र साहित्य और उसका हिन्दी के आदिकालीन काव्य पर पड़ने वाले प्रभाव का संकेत किया है । अब देखना यह है कि संस्कृत के महाकाव्य, नाटक, गद्यसाहित्य अर्थात् कथा-आख्यायिका ने हिन्दी की आदि कालीन काव्यधारा में विद्यमान प्रवृत्ति के स्वर को कितना तीव्र कर दिया है । इस पर एक विहंगम दृष्टि डालकर हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं ।

महाकाव्य - 'संस्कृत महाकाव्यों की सूची यों तो बहुत लम्बी है किन्तु इसमें कालिदास की प्रधानता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता है । इस महाकवि ने स्वयं राजसुख भोगा था और इसीलिए उसके काव्य में राजभोग विषयक प्रवृत्ति का बीजांकुरण भी हुआ है । "जीवन उनका राजकीय वैभव और ऐश्वर्य तथा प्रतिष्ठा से सम्पन्न था । राजधानी के जीवन की बहुमुखता एवं विविधता से वे पूर्णतया परिचित थे । उदार शासकों के धार्मिक शासन के कारण चतुर्दिक जो सुख-विलास की जीवनधारा प्रवाहित थी उसमें वह पूरी तरह रमे हुए थे । विलास से सुतरां परिचित होने पर भी वह उसमें जड़ता एवं आलस्य में डूबे नहीं थे, यह उनकी अनुपम विशेषता है । यही कारण है कि उनके काव्यों में विलासमय जीवन का चित्रण होने पर भी एक बलिष्ठ आदर्शवाद की भावना जागृत होती रहती है ।"[1] कालिदास का प्रसिद्ध

1- संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास : पृष्ठ - 174

महाकाव्य रघुवंश संस्कृत काव्यधारा का सर्वोत्तम महाकाव्य माना गया है । भारतीय जीवन और वाङ्मय में रघुवंश और उसकी यश गाथा अव्याहत रूप से अप्रतिम है । "सभी दृष्टियों से आदर्शभूत प्रजारंजक राजाओं की चरित गाथा के द्वारा कवि इस रचना में राजमर्यादा का एक सार्वकालिक एवं सार्वभौम आदर्श उद्घाटित करना चाहता है । दिलीप, रघु-अज, दशरथ, राम, कुश, अतिथि' इन छह सम्राटों का विस्तृत वर्णन 17 सर्ग तक कर देने के बाद 18वें सर्ग में अनेक राजाओं का एक साथ वर्णन करके उन्नीसवें सर्ग में अग्निवर्ण के चरितचित्र के साथ ही कवि ने अपनी रचना का पर्यवसान किया है[1]।"

<u>चरित काव्य</u> - इन विशाल महाकाव्यों के अतिरिक्त कुछ छोटे महाकाव्यों में भी प्रशस्ति के बीज पाए जाते हैं । इतिहासकारों ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है - "एक काव्य 'पद्मचूडामणि' है । इसे बुद्धघोष की रचना बताया जाता है, जिसका काल ई० की 5वीं शती के बाद नवीं शती तक था । इसमें 10 सर्ग हैं[2]।" संस्कृत में चरित काव्यों की भी एक लम्बी परम्परा है जिनमें प्रशस्ति [illegible] हैं और आदिकालीन हिन्दी काव्य की प्रशस्ति परम्परा को प्रभावित करने वाले सूत्रों का सन्धान किया जा सकता है । वाक्पतिराज का गउडवहो एक ऐसा चरितकाव्य है जिसमें "वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित और भवभूति के समकालीन कवि हैं[3]। गउडवहो काव्य में यशोवर्मा की एक गौड़ राजा पर विजय का वर्णन है[4]।" - इस प्रकार इन काव्यों में प्रशस्ति काव्य के बीज विद्यमान हैं जिनका परवर्ती हिन्दी अपभ्रंश और डिंगल काव्यों में पूर्ण विकास हुआ है । पद्मगुप्त अथवा परिमल नामक कवि का 'नवसाहसांकचरित' 1005 ई० के लगभग रचा गया था " इसमें नागों के बन्धु वज्रांकुश को पराजित कर सिन्धुराज द्वारा नागराज शंखपाल की राजकुमारी शशिप्रभा से विवाह करने का ललित वर्णन है[5]।" युद्ध और विवाह के विषय से गर्भित इस काव्य में प्रशस्ति का निश्चित

1- संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास : पृष्ठ - 176

2- वही : पृष्ठ - 192

3- राजतरंगिणी : 4 ; 144

4- संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास : पृष्ठ 262

5- वही : पृष्ठ - 263

रस के वही ढंग और दशा सम्भावित है जिसके दर्शन हम आदिकालीन हिन्दी की वीर गाथाओं में करते हैं ।

बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित विवेच्य विषय के विचार से अवलोकनीय है । "कश्मीरी कवि बिल्हण ने 1085 ई० के लगभग विक्रमांकदेवचरित की रचना की । ------भ्रमण करते हुए वे कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ (1076 - 1127 ई०) की राजसभा में पहुँचे थे । राजा ने इन्हें अपना सभापति बनाकर विद्यापति की उपाधि से अलंकृत किया था । बिल्हण ने अपने विक्रमांकदेवचरित के 18 सर्गों में चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य का चरित गाया है । इसमें उन्होंने अपने आश्रयदाता राजा के पिता आहवमल्ल की मृत्यु, राजकुमारी चन्द्रलेखा के विवाह, उनके दो भाइयों और चोलों की पराजय आदि घटनाओं का काव्यात्मक वर्णन किया है । बिल्हण के विक्रमांकदेव चरित के द्वारा से तत्कालीन राज्यों के प्रकार का थोड़ा परिचय मिलता है[1] "उनके द्वारा वर्णित घटनाओं की पुष्टि करता है चालुक्यवंशी राजाओं के अभिलेखों से भी होती है[2]।" 18 सर्गों में चरित बखानने वाले इस काव्य में चन्द्रलेखा के विवाह के सन्दर्भ के आ जाने से वीर रस में साथ शृंगार की धारा संपृक्त हो उठी है । हिन्दी की वीर गाथाओं की समान परिस्थिति में रचे गये इस चरित काव्य का परवर्ती रचनाओं पर प्रभाव स्वाभाविक है । अतः हिन्दी वीरगाथा में वीरता और रस विषयक प्रवृत्ति के लिए यह काव्य पूर्वज काव्य माना जा सकता है ।

इसी परम्परा में कल्हण की राजतरंगिणी की भी गणना की जाती है । "कश्मीरी कवि कल्हण की राजतरंगिणी ऐतिहासिक काव्यों में उच्च महत्व की रचना है । कल्हण के पिता चम्पक काश्मीर के राजा हर्ष (1089 - 1101 ई०) के अमात्य थे । कल्हण ने इस राज्य के घटनाचक्र को अपनी राजतरंगिणी में सुचित्रित किया है । अनुमित है कि कवि ने अपने आश्रयदाता अलकदत्त की प्रेरणा से इस काव्य की रचना । इस काव्य की आठों तरंगों में विभिन्न राजाओं के शासन का विभिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है ।

---

1. वी० वेंकटरमन : विक्रमांकदेवचरित इन इट्स हिस्टारिकल सेटिंग : इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली : 1938 के आधार पर डा० सूर्यकान्त द्वारा उद्धृत ।
2. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास : पृष्ठ - 264

× × × × × अन्तिम आठवीं तरंग में सातवाहन वंश के उच्चल, सुस्सल, भिक्षाचर और जयसिंह आदि राजाओं की जीवन गाथा वर्णित है । महाकवि कल्हण ने विभिन्न राजाओं महापुरुषों एवं सामान्य व्यक्तियों के चरित्र का कुशलता चित्रण किया है । महाकवि कल्हण का दैव की महिमा पर अटूट विश्वास था । प्रत्येक घटना में वह विधाता का करिश्मा देखते थे । कल्हण ने अपने ग्रन्थ के प्रणयन में राजकथाओं के 11 संग्रहों, नीलमत पुराण, अनेक अधिकार लेखों, शिलालेखों, दानपत्रों, प्रशस्तियों, सिक्कों और हस्तलिखित ग्रन्थों से सहायता ली थी । स्थानीय अनुश्रुतियाँ तथा परम्पराएँ भी कवि की दृष्टि से ओझल नहीं थीं । × × × राजतरंगिणी को तत्कालीन काश्मीर का विश्वकोष कहा जा सकता है । राजतरंगिणी में 8 तरंगों में निबद्ध 7826 श्लोकों में आदिकाल से लेकर सन् 1151 ई० के आरम्भ तक के काश्मीर के प्रत्येक राजा के शासन काल की घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण दिया गया है ।"[1] चरित काव्य की श्रृंखला की एक कड़ी पृथ्वीराज विजय भी है । गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने कश्मीरी कवि जयानक को इसका रचयिता बताया है । इस खण्डित काव्य में "अजमेर और दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज की शहाबुद्दीन गोरी पर 1191 ई० में प्राप्त विजय का वर्णन है ।"[2] शहाबुद्दीन गोरी और चौहान राजा पृथ्वीराज के युद्ध का यही वृत्तान्त हिन्दी के आदिकालीन कवि चन्द बरदाई ने अपनी विशाल वीरगाथा -'पृथ्वीराजरासो' में प्रस्तुत किया है । संस्कृत चरित काव्यों में वर्णित प्रशस्ति आदि विषयों का हिन्दी के आदिकालीन चरित काव्यों से क्या सम्बन्ध है यह बताने की आवश्यकता शायद अब नहीं रह जाती है । पृथ्वीराज विजय के ही समान मेरुतुंग का प्रबन्ध चिन्तामणि एक अर्द्ध ऐतिहासिक चरितकाव्य है ।[3]

संस्कृत के ये चरित काव्य और उनकी विषय सम्पदा की ओर ध्यान आकृष्ट करने में हमारा यही लक्ष्य रहा है कि पाठक इस बात को भलीभाँति समझ लें कि हिन्दी के आदिकालीन काव्य रूपों और उनमें स्थापित विषयों की संस्कृत साहित्य में चिरन्तन परम्परा विद्यमान है ।

संस्कृत नाटक और प्रशस्ति - अन्य काव्य रूपों की भाँति संस्कृत के नाटकों में भी उदात्त चरित्र वाले, कुशल प्रशासक, प्रजापालक, लोकरक्षक वीर राजाओं के जीवन का

1- संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास : पृष्ठ - 265-67
2- वही : पृष्ठ - 268
3- वही : पृष्ठ - 269

प्रतिबिम्ब प्रतिफलित हुआ है । किन्तु नाटककारों को अपने चरित नायकों के यशगान का सहज अवसर सुलभ हुआ है । काव्य के रूप में जहाँ अन्य तमाम विषय और प्रवृत्तियाँ हिन्दी को संस्कृत से प्राप्त हुई वहीं प्रशस्ति की भावना भी इन नाटकों की नाट्य वस्तु से प्रभावित मानी जा सकती है । जहाँ तक इन नाटकों में वर्णित विषय का प्रश्न है वह सामन्तीय संस्कृति से सम्बद्ध होने के कारण राज, समाज और धर्म पर आधारित है । लोग कहते हैं कि कालिदास के दुष्यन्त नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नाटककार ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का जो आभास दिया है उससे लगता है कि "लोग गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पूरे करके वानप्रस्थी बनकर तपस्या करने के लिए वन में चले जाते थे । नृपतिगण भयग्रस्त मनुष्यों की रक्षा करना उनका कर्तव्य समझते थे । राजा प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था । दुष्यन्त की प्रजा में निम्नवर्ग के लोग भी कुमार्गगामी नहीं थे (5/10) राजा सदैव प्रजाहित में तत्पर रहता था । राजा को प्रजा की आय का छठा भाग कर रूप में लेने का अधिकार था । इसीलिए वह 'षष्ठांशवृत्ति' (5/4) कहलाता था । न्याय निष्पक्ष होने पर भी कठोर नहीं था । धनी व्यापारी धनमित्र के निःसन्तान मरने पर राजनियमानुसार उसकी सारी सम्पत्ति राजा की थी । किन्तु विवेकी और दयालु राजा ने उसकी गर्भवती विधवा को वह सम्पत्ति दे देने की आज्ञा दी ।"[1] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त की महिमा का गान करते हुए "अध्यासितैवनुविपोरपुलैव वही ।"[2] जैसी पंक्तियाँ राजा दुष्यन्त की वीरता मूलक प्रशस्ति का ही वाचन करती हैं । संस्कृत के अन्य दर्जनों नाटकों में इस प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है किन्तु अनावश्यक विस्तार के भय से उन्हें उद्धृत करना उचित नहीं प्रतीत होता । हिन्दी के आदिकालीन काव्य को विषय के आधार पर निश्चित रूप से इन नाट्य रचनाओं का प्रभाव ग्रहण करना पड़ा था ।

संस्कृत कथा साहित्य और प्रशस्ति :- संस्कृत कथा और आख्यायिका गद्य काव्य के प्रमुख रूप हैं । सुबन्धु, दण्डी और बाणभट्ट संस्कृत के प्रमुख गद्यकार हैं । जहाँ तक संस्कृत कथा और आख्यायिका का सम्बन्ध है बाणभट्ट की कृतियाँ ही इस धारा का

1- पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूप रेखा : संस्करण 7 : पृष्ठ - 158 - 59

2- कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तलम् : अंक २ : [illegible] : श्लोक सं० १५ ।

पूर्ण प्रतिनिधायन करती है । यह भी उल्लेखनीय है कि "संस्कृत आख्यायिकाएँ ऐतिहासिक इतिवृत्ति पर आधारित हैं । कथायें मिथ्यावरण, संग्राम की प्रधानता के साथ अन्य विषयों का भी वर्णन पाया जाता है ।"[1] इस प्रकार संस्कृत कथा की कथावाचन और युद्ध वाली प्रवृत्ति का हिन्दी और कथाओं पर अद्भुत प्रभाव देखा जाता है । आख्यायिकाओं में ऐतिहासिक चरित की महिमा गान के अन्तराल में हिन्दी की आदिकालीन रचनाओं की प्रशस्ति परम्परा भी आँख खोलती सी दिखाई पड़ती है । इन प्रवृत्तियों का साक्ष्य "दण्डी के दशकुमार चरित नामक रचना से मिल जाता है । इस ग्रन्थ के पूर्व भाग के द्वितीय उच्छ्वास में कुमारों के दिग्विजय यात्रा, तृतीय से पंचम तक सोम, पुष्प और राजवाहन का भी वर्णित है । उत्तर भाग में अपहार वर्मा, उपहार वर्मा, अर्थपाल, प्रमति, मित्र गुप्त, मन्त्रगुप्त और विश्रुत चरित का चित्रण किया गया है ।"[2] इन्हीं अपनी परिधि में अनुरूप प्रशस्ति का भाव विद्यमान है । सुबन्धु और दण्डी की कृतियों का उल्लेख इस दृष्टि से महत्वहीन है । अतएव मात्र बाणभट्ट के मात्र हर्षचरित की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा । "हर्षचरित में बाण ने अपने आश्रय दाता सम्राट हर्षवर्धन के जीवन वृत्त का कुछ अंश लिखा है । x x x इसके चतुर्थ उच्छ्वास में राज्यवर्धन प्रभाकर वर्धन एवं उनकी महिषी यशोवती का आख्यानक वर्णमान है । x x x सप्तम उच्छ्वास में भी हर्ष की दिग्विजय यात्रा, मालवा राज पर विजय, और भण्डि द्वारा मालवराज की सेना पर विजय और वहां के खजाने पर आधिपत्य स्थापित करने का विस्तृत वर्णन है ।"[3] चीनी यात्री युवान च्वांग के संस्मरणों से विदित होता है कि हर्ष ने आसाम के राजा भास्कर वर्मा की सहायता से गौड़ नरेश को पराजित किया था और उत्तरी भारत पर दिग्विजय करने के उपरान्त "महाराजाधिराज की उपाधि धारण कर 30 वर्ष तक शान्तिपूर्वक राज्य किया था ।"[4] यशोवती के यशगान, गौड़ नरेश के साथ युद्ध की घटनाओं का वर्णन करते हुए बाणभट्ट ने जिस [illegible] रसी निरूपण की पद्धति का अनुसरण किया है जिसका प्रतिफलन और विस्तार आदिकालीन हिन्दी की रासो काव्यों में पाया जाता है ।

1- पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : संस्करण 7: पृ० - 270
2- वही : पृष्ठ - 280
3- संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास : पृष्ठ सं० - 277-78
4- वही : पृष्ठ - 261

संस्कृत लक्षण ग्रन्थ एवं प्रशस्ति :- आचार्य भरत की परम्परा का अनुपालन करने वाले जिन विद्वानों ने अलंकार शास्त्र और नाट्य शास्त्र पर ग्रन्थ रचे हैं, वे भी प्रायः किसी राजा के आश्रित ही रहे । अतः प्रशस्ति का भाव परोक्ष रूप से इनमें भी विद्यमान था । यद्यपि इन ग्रन्थों का मुख्य विषय काव्यांगों का परिचय और परीक्षण रहा फिर भी कुछ लक्षण ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें प्रशस्ति का उद्गम पाया जाता है । क्योंकि निश्चित रूप से परवर्ती हिन्दी भाषा के आदिकालीन काव्यों की प्रशस्ति परम्परा को प्रेरित और प्रभावित किया होगा । डा० सूर्यकान्त का विचार है - "संस्कृत काव्य शास्त्र में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनमें उनके लेखकों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । विद्याधर (1300 ई०) का 'एकावली' नामक ग्रन्थ ऐसा ही है । इसकी रचना विद्याधर ने अपने आश्रयदाता उत्कल और कलिंग के राजा नरसिंह की प्रशंसा में की है । यह 'काव्य प्रकाश' की शैली में लिखा गया है । विद्यानाथ ने इसी प्रकार के ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की रचना की जिसमें वारंगल के प्रताप रुद्रदेव (1300 ई०) की प्रशंसा में रचित पद्य उदाहरण के रूप में दिए गए हैं । इसी प्रकार विश्वेश्वर ने सिंह भूपाल (1400 ई०) की प्रशंसा में 'चमत्कार चन्द्रिका', यज्ञनारायण ने तंजौर के रघुनाथ नायक (1614 - 1632 ई०) की प्रशंसा में 'अलंकार-रत्नाकर', अभिनव कालिदास नृसिंह कवि ने नंजराज (18वीं शती का उत्तरार्द्ध) की प्रशंसा में 'नंजराजयशोभूषण', और सदाशिव मखी ने त्रावनकोर के राजा राम वर्मा (18वीं शती का अन्तिम भाग) की प्रशंसा में 'रामवर्मयशोभूषण' की रचना की ।"[1]

आदिकालीन हिन्दी काव्य में अनुस्यूत प्रशस्ति काव्य का स्वरूप पूर्ववर्ती संस्कृत रचनाओं से किस प्रकार जुड़ा होकर उनसे प्रभावित है, इस पर विचार करने के लिए आदिकालीन हिन्दी साहित्य से पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य का अनुशीलन किया जा चुका है । संस्कृत के इस युग के अन्त के साथ हिन्दी के आदि काल की स्थिति होती है और जिसे डा० रामकुमार वर्मा संधिकाल मानते हैं, जिस काल खण्डों में रचनाएं प्रस्तुत की गयी हैं । प्रसंगागत इसकी आधार भूमि खोजते हुए हमने संस्कृत के लौकिक साहित्य महाकाव्य, चरित काव्य, नाटक, कथा साहित्य एवं लक्षण ग्रन्थों का सिंहावलोकन

1- संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास ; पृष्ठ - 359 - 60

किया और यह देखा कि प्रत्येक प्रकार की काव्यधारा का स्वरूप किसी न किसी प्रकार एक साधक मार्ग में प्रचलित की जा रही परम्परा से अनुप्राणित है । उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में प्रमुख प्रकार के काव्यों में आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा के गायन का भाव प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रूप में सर्वत्र विद्यमान है । जहाँ रघुवंश में कालिदास ने रघुवंश के प्रतापी राजाओं की दानशीलता, वीरता और शौर्यता के गीत गाए हैं वहीं उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तलम् जैसी अपनी नाट्य कृतियों में दुष्यन्त की वीरता और प्रजावत्सलता दिखाते हुए उन्हें देवराज इन्द्र का सहायक सिद्ध किया है । उसके बाद प्रायः [illegible] के हर्षचरित में बाणभट्ट ने गुणगान की स्वस्थ परम्परा के अनुरूप हर्ष के दान [illegible] और युद्धकौशल आदि की पुष्ट रूप से प्रशंसा की गयी है । यहाँ तक कि तत्कालीन [illegible] ग्रन्थ प्रणेताओं ने भी अपने आश्रयदाताओं की विरदावली का अतिरंजना पूर्ण चित्रण किया है । संस्कृत के मध्ययुगीन साहित्य के वस्तु और शिल्प पक्ष का आदिकालीन हिन्दी काव्यों के रचना तन्त्र पर पुरजोर प्रभाव है ।

हिन्दी का आरम्भ युगीन साहित्य जब सामन्तीय परिवेश में [illegible] रहा था [illegible] संस्कृत [illegible] ने अपनी [illegible] मूंदी थी । मात्रा में तत्कालीन संस्कृत साहित्य का प्रमुख भाव स्वतः राज प्रशस्तियों और देवी-देवताओं की स्तुति-आराधना से सम्बन्धित हो उठा था । क्योंकि [illegible] सिद्धों-नाथों की अन्तर्मुखी तापस वाणी में जिस पारलौकिक प्रवृत्ति का सूत्रपात और विकास हुआ है वह संस्कृत के धार्मिक साहित्य से निर्मित, पोषित एवं प्रभावित है । दूसरी ओर आदिकालीन वीरगाथाओं में चित्रित होने वाली प्रवृत्ति का लौकिक रूप अपनी लौकिक परम्पराओं में आधार ग्रहण करने वाले पूर्ववर्ती संस्कृत के [illegible] से महाकाव्य, नाटक, गीति काव्य, कथा आख्यायिका और चम्पू ग्रन्थों में चित्रित आश्रयदाता राजाओं-राजकुमारों की अनूठी सामन्तीय सम्पदा को बड़े मुक्त रूप से पाठक के सामने रखता है । इन दोनों परिस्थितियों में दोनों प्रकार के काव्यों में प्रवृत्ति की प्रधानता और निरन्तरता अखण्डित रूप से गतिमान है । संक्षेपतः हिन्दी प्रवृत्ति सम्बन्धी आदिकालीन रचना का पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य की प्रशस्ति परम्परा से घना सम्बन्ध है । इनका प्रभाव ग्रहण करके आदिकालीन हिन्दी काव्यधारा में विविध विषयों का प्रायः परिवर्धन हुआ है, जिसकी विशद विवेचना इस शोध प्रबन्ध के चौथे और पांचवें (आठवें) अध्याय में की जायेगी ।

(ख) <u>प्रशस्ति काव्य के भेद</u> :

विवेच्य काल के काव्य में प्रशस्ति के तत्व की परम्परा के आगम पर विचार करते हुए हमें उसके दो मूल रूप दिखाई पड़े - एक तो लौकिक राजाओं की महनीयता का अनेक विध वर्णन और दूसरे अलौकिक शक्ति के रूप में ईश्वर तथा देवी - देवताओं का स्तुति गान । इतिहासकार बताते हैं कि - 800 - 1500 ई० के बीच उत्तर - दक्षिण भारत में केन्द्रीय सत्ता टूट गयी, आर्थिक सत्ता से सम्पूर्ण स्थानीय भावना जड़ पकड़ने लगी । पूरे प्रदेश में राष्ट्रीय मुद्दों के स्थान पर ध्यान स्थानीय हित पर केन्द्रित हो गया । परिणामतः स्थानीय इतिहास के लेखन में वृद्धि हुई । छोटे-छोटे राज्यों एवं राजवंशों के इतिहास लिखे जाने लगे । इन इतिहासकारों ने अपने राजवंशों का सम्बन्ध पुराने प्रख्यात राजवंशों एवं पौराणिक देवताओं से जोड़ना प्रारम्भ किया । स्थानीय गौरव की अभिव्यक्ति, स्थानीय राजाओं के इतिहास और काव्यों एवं महाकाव्यों में हुई और इन्हीं में पृथ्वीराज रासो अपने तरह की सर्वाधिक लोकप्रिय कृति है ।[1] यह ही नहीं कि इन रासकों में पौराणिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में ही देवताओं का स्मरण किया गया हो अपितु उनका स्वतंत्र स्तवन भी किया गया है । सिद्धों - नाथों ने अपने धार्मिक साहित्य में इसे प्रशस्ति के रूप में स्वीकार किया । परिणामतः प्रशस्ति और कीर्तन का प्रचलन अनेक रूपों में आदिकालीन हिन्दी काव्य में वर्णित हुआ । विवेच्य काल के काव्य में इसके अनुसंधान की प्रक्रिया को सम्पूर्णता प्रदान करने की दृष्टि से इसके भेदोपभेद पर विचार कर लेना भी समीचीन है । जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है - प्रशस्ति के मुख्य दो भेद हैं :-

(अ) लौकिक प्रशस्ति ।

(ब) अलौकिक प्रशस्ति ।

उक्त दोनों मूल रूपों के अनेक रूप काव्य में फलतः विकीर्ण होते रहे हैं । इन्हीं का क्रमबद्ध अनुशीलन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है । ये रूप प्रायः निम्न रूपों में पाए जाते हैं :-

1- यशगान ।

2- शौर्य - वर्णन ।

1- रोमिला थापर : भारत का इतिहास : अध्याय 1 : पृ० - 199

3- वीरता - वर्णन ।

4- ऐश्वर्य और वैभव का वर्णन ।

5- याचना एवं प्रणति ।

6- स्तुति एवं आराधना ।

7- शरणागत भाव की अभिव्यक्ति ।

8- रूप वर्णन ।

9- अन्य

यशोगान :-

यशेषणा की प्रवृत्ति मनुष्य के सहज मनोभाव का परिणाम है । अनादिकाल से मनुष्य अपने यश और अपनी कीर्ति को सुनने में सुखानुभूति करता रहा । काव्य में चरित नायकों के तेज, प्रताप, दानशीलता, [illegible], प्रजा वत्सलता आदि जिन गुणों का कवियों द्वारा वर्णन किया गया है वे वस्तुत: काव्य की यशोगान मूलक प्रवृत्ति के ही विधायक हैं । आदिकालीन काव्य के प्रमुख ग्रंथों में कवियों ने उक्त उल्लेखित गुणों पर अधिकांश प्रकाश डाला है, अत: उन सबका अंकन यशोगान मूलक प्रवृत्ति के अन्तर्गत ही किया जायेगा ।

वंश - वर्णन :-

आदिकालीन रासो काव्यों में चारण कवियों ने राजाओं की वंशावली बखानने वाली जिस परम्परा का अनुसरण किया है वह पूर्ववर्ती संस्कृत आदि साहित्य में विद्यमान रहा । सामन्तीय काव्यों में रचनाकारों ने अपने आश्रयदाताओं के पूर्व पुरुषों का अतिरंजना पूर्ण वर्णन करते हुए एक ओर उन्हें नागों-देवों, यक्षों, किन्नरों तथा ऋषियों का गोत्र स्वीकार किया है और दूसरी ओर अपने चरित नायकों को त्रिदेवों, अन्य देवों, रामायण - महाभारत कालीन पात्रों और महापुरुषों का अवतार माना गया है । आदिकालीन काव्यों में वस्तुत: विशेष रूप से विषयक सामग्री इसी कोटि में मानी जायेगी ।

वीरता वर्णन :-

वीर पूजा की भावना प्राय: विश्व की समस्त सभ्य जातियों में पाई जाती है । जहाँ तक उपलब्ध विश्व के प्राचीनतम साहित्य - वेद में भी वीर पुरुषों के रूप में वेनु, पृथु, दशरथ आदि का उल्लेख मिलता है ।[1] संस्कृत के लौकिक चरित काव्यों में

1- (अ) ऋग्वेद : 1/126/4, 2/1, 11, (ब) 19/39/9, शतपथ 13/5/4/5

वीरों और महापुरुषों की गाथायें ही उनके कलेवर का केन्द्र निर्मित करती हैं । देव वाणी में संचित प्रशस्त काव्य की परम्परा के अन्तर्गत चरित नायकों की विद्वता, दानशीलता, सम्पदा, रूप, लावण्य आदि के सहज अथवा अतिरंजना पूर्ण वर्णन के साथ ही साथ उनकी वीरता और उनकी पौरुषेय उपलब्धियों का मुक्त कण्ठ से गान किया गया है । हिन्दी के आदिकालीन काव्य को परम्परा के रूप में प्राप्त इस प्रशस्ति काव्य ने दूर तक प्रभावित किया है जिसका विवेचन पीछे किया जा चुका है ।

प्रशस्ति काव्य में वीरता-वर्णन के अन्तर्गत वीर धर्म के चारों लक्षणों - दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर का अन्तर्भाव स्वीकृत है । नायकों के युद्ध कौशल, रण प्रयाण, रणांगण में शत्रुओं के साथ ही साथ मुक्त हस्त होकर दान देने की प्रवृत्ति, धार्मिक आचरण, पात्रों के प्रति दयालुता आदि का भाव भी वीरता मूलक प्रशस्ति का ही विषय है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आदिकालीन काव्य की वीरता मूलक प्रशस्ति का निर्धारण करते समय, विषय का आकलन इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर किया जायेगा अर्थात् वीरता-वर्णन के अन्तर्गत प्रशस्ति से हमारा जो तात्पर्य है वह नायक-नायिका के समस्त उदात्त नैतिक आचरण से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध है ।

याचना एवं प्रणति :-
=============

प्रशस्ति काव्य की परम्परा में वर्णित याचना एवं प्रणति की भावना का आलम्बन और धर्म प्रदाता होता है । दूसरे शब्दों में आश्रयदाता ही अपने आश्रितों के हृदय में अपनी उदारता के कारण याचना एवं प्रणति के भाव का बीजारोपण करता है । स्पष्ट यह होता है कि परवर्ती कवियों ने किसी राजा, राजकुमार, सामन्त आदि लौकिक तथा ईश्वर और देवता सदृश पात्रों के प्रति याचना एवं प्रणति का निवेदन किया है वह अपने मूलरूप में प्रशस्ति गायन ही है । इस प्रकार की प्रवृत्ति न केवल आदिकाल की नैतिक वीरगाथाओं में अपितु सिद्धों नाथों के साधनात्मक साहित्य में प्रणति एवं याचना की भावना पर्याप्त रूप में व्यंजित हुई है । पूर्ववर्ती संस्कृत के प्रशस्ति काव्य में भी यह प्रवृत्ति प्रचुरता से मिलती है । देवी प्रशस्तियों का प्रमुख स्वर होने के साथ ही साथ प्रणति एवं याचना मूलक प्रशस्ति का भाव लौकिक चरित काव्यों में भी पर्याप्त लोकप्रिय रहा । यह अवश्य है कि प्रथम की प्रणति याचना देवशक्ति पर अवलम्बित है और द्वितीय की प्रणति और याचना मानवशक्ति की सीमा में ही सिमटी हुई है । आदिकालीन हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में प्रशस्ति का अनुधावन करते

समग्र प्रणति एवं याचना मूलक प्रशस्ति का रेखांकन इन्हीं मान्यताओं के आधार पर किया जायेगा ।

सम्पदा - वर्णन :-

प्रशस्ति की प्रवृत्ति के अन्तर्गत आश्रयदाता अथवा आराध्य के धन, वैभव आदि लौकिक सम्पदा का वर्णन भी प्रशस्तिकार अति मुक्त कण्ठ से करते आये हैं । संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी की रचनाओं में रचनाकार कवियों ने अपने आराध्य और आश्रयदाता की प्रशंसा करते हुए उनके खानपान, धन-धान्य, हाथी-घोड़ा, फौज-फकाँ, नगर-नारिका, रीति-रिवाज, दान-दक्षिणा, वस्त्र, व्यापार आदि का भी अतिरंजना और पक्षपात पूर्ण वर्णन किया है, उसे ही हम सम्पदा मूलक प्रशस्ति की संज्ञा प्रदान करना चाहते हैं । आदि काल की समग्र काव्यधाराओं में विकीर्ण सम्पदा मूलक प्रशस्ति के सार रूप के सुनियोजित अनुसंधान में उपरिचर्चित सूत्रों का ही चयन अभीष्ट है ।

स्तुति एवं आराधना :-

स्तुति एवं आराधना का भाव प्रायः भक्ति एवं स्तोत्र काव्य का ही विषय है किन्तु ऐकान्तिक रूप से रचनाकारों ने इसका पालन किया हो, ऐसे रूप में नहीं किया है । स्तुति एवं आराधना शब्द अपने मूल रूप में अलौकिक सत्ता के प्रति समर्पित भावना में ही सार्थकता ग्रहण करता है फिर भी लौकिक नायकों और महापुरुषों, राजाओं और वीरों की भी स्तुति और आराधना की गयी है । किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि लोक धर्मिता में प्रायः यह समादृत बहुत अच्छा और उच्चस्तरीय माना जाता । दूसरी बात यहां यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत, अपभ्रंश अथवा हिन्दी के जिन काव्यों में लौकिक पात्रों की स्तुति एवं आराधना का वर्णन हुआ है प्रायः वे सभी समकालीन काव्य हैं । जो भी हो, विषय का आरम्भ काल रहा यहाँ यह विचारणीय नहीं, विचारणीय यह है कि स्तुति एवं आराधना मूलक प्रशस्ति की एक निश्चित पूर्वापर परम्परा है । प्रशस्ति के इस भेद के अन्तर्गत लौकिक और दैवी दोनों प्रकार के पात्र (नायक) यदि अथवा सामाजिक की श्रद्धा और सम्मान के विषय बने हैं । कवियों ने जहाँ एक ओर राम, कृष्ण, शिव, पार्वती, गणेश, दुर्गा आदि अनेक देवताओं की स्तुति की है वहीं 'वाहिनिका' की भी दिल खोल कर वन्दना की है । सम्भव है कि भारतीय संस्कृति में राजा को ईश्वर का अंश मानने की परम्परा के नाते ही शायद ईश्वर के ही समान राजा अथवा राजन्य वर्ग के लोग स्तुति एवं आराधना के आलम्बन हो गये हों । जिस काल की काव्य धारा को हमने विवेच्य विषय के रूप में स्वीकार किया है उस

काल में राजा लोक जीवन में ईश्वर से भी अधिक महत्व रखता था । सामन्तीय और शाही व्यवस्थाएँ न केवल कला और साहित्य अपितु समग्र जीवन की दिशा और दृष्टिकोण दे रही थीं । सारांश यह कि स्तुति एवं आराधना मूलक प्रशस्ति के लौकिक-अलौकिक रूपों की विवेचना इन्हीं बिन्दुओं से उभारि करना अभीष्ट है ।

शरणागत भाव :-

आराध्य और आश्रयदाता के शरणागत भाव का बखान उसकी शक्ति और सामर्थ्य का ही तो वर्णन है । शरण वह ही दे सकता है जिसमें रक्षा की क्षमता और संकट में अभयदान देने की क्षमता विद्यमान हो । इस दृष्टि से काव्य में जहाँ-जहाँ शरण देने और पालने का वर्णन हुए हैं वे सभी स्थल शरणागत मूलक प्रशस्ति के पद हैं । यह भी एक सामान्य प्रवृत्ति का विषय है कि काव्य में चरितनायकों द्वारा शरणदान करने का वर्णन एक परम्परागत विषय है । संस्कृत के चरित और प्रशस्ति काव्यों में ही नहीं [illegible] में भी शरणागत भाव की व्यंजना पायी जाती है ।[1] अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में 'अथाधिदैवताद्यपि [illegible]' जैसी उक्तियों में दुष्यन्त के लोकोत्तर [illegible] रूप का [illegible] चित्रण है । प्रस्तुत विषय की विवेचना के अन्तर्गत हमें शरणागत भाव की परम्परा का अनुसंधान आदिकालीन डिंगल और अपभ्रंश काव्य में करना होगा ।

रूपात्मक वर्णन :-

चरित एवं प्रशस्ति काव्यों में नायक-नायिकाओं के रूप का भी चित्रण किया गया है । यह भी देखा जाता है कि अपनी स्वाभाविक वृत्ति से कवि अन्य [illegible] पात्रों को सुन्दरता के चित्रण में रमते रहे हैं किन्तु आराध्य और आश्रयदाता नायक-नायिकाओं को छोड़कर शेष गौण पात्रों के रूप का जहाँ भी चित्रण हुआ है, वह [illegible] प्रशस्ति नहीं मानी जायेगी । [illegible] बात तो यह है कि जिस पुरुष, देवता, पात्र, देवी अथवा आराध्य से लौकिक अथवा अलौकिक उपलब्धि का सम्बन्ध होता है उसका जैसी प्रकार से [illegible] शोभात्मक या गुणविधायक वर्णन ही प्रशस्ति की [illegible] रखता है । इतर पात्रों के [illegible] वर्णन को [illegible] चित्रण मात्र ही माना जायेगा । अतः चरित काव्यों में जहाँ नायक-नायिकाओं अथवा राजा-रानियों के रूप का वर्णन किया गया है उसे प्रशस्ति माना जायेगा । किन्तु दासी, नौकरानी, ताम्बूलवाहिनी, नर्तकी आदि का रूप वर्णन प्रशस्ति की परिधि से बाहर है ।

1- . रघुवंश काव्य की वंश परम्परा के वर्णन प्रसंग में कालिदास के चित्रण का अवलोकन कीजिए ।

अन्य :-

ऊपर जिन प्रशस्ति-सूत्रों का निर्देश किया गया है, वे इस कोटि के काव्य में सतत् प्रवहमान धारा के रूप में विद्यमान हैं । इन सूत्रों से भिन्न रूप में भी प्रशस्ति की व्यंजना सम्भव है क्योंकि भाव की वचन-वक्रता और उसकी भाषा शैली की अभिव्यक्ति पद्धति को सनातन सरणियों में बाँध पाना या उसका निश्चित वर्गीकरण कर पाना बड़ा कठिन है । सम्भव है कि प्रशस्ति के निर्धारित सूत्रों से कुछ ऐसे भाव सुमनों को न बाँधा जा सके जो काँटों से घिरे हों अर्थात् विपत्ति में सम्पत्ति का, दुःख में सुख का, अभाव में भाव का आभास देते हों ।

हिन्दी का आदि काल राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही हलचल पूर्ण है । इस युग की साहित्य-साधना की दो प्रमुख धारायें थीं - सिद्धों नाथों की साधनात्मक काव्य धारा और राजपूताना के चारण कवियों की वीरगाथायें । एक में मूल विषय ईश्वरीय महिमा की स्वीकृति है और दूसरी में लोक-नायकों या लौकिक नायकों की विरुदावली वर्णन की ही प्रधानता हो गयी थी । परिस्थितियों की इस व्यग्रता में काव्य का अखण्डित प्रवाह छिन्न हो गया ।

प्रशस्ति की व्युत्पत्ति करते हुए उसके ससीम और असीम भाव क्षेत्र का जो विवेचन ऊपर किया गया है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि कवि के भाव-कोष की वह व्यंजना जो लौकिक और दैवी सत्ता के प्रति समर्पित मन से यशगान में प्रवृत्त होती है, उसे प्रशस्ति कहते हैं । इसके सीमित अर्थ को स्वीकारते हुए हम इसे कोरी चटैती, चाटुकारिता जैसा ओछा धरातल प्रदान कर देते हैं और कभी-कभी इसे ससीम अर्थ के उदात्त स्तर पर लाकर मात्र आश्रयदाता राजाओं के यशगान के पर्याय के रूप में स्वीकार करके छोड़ देते हैं । किन्तु अपने व्यापक परिवेश में प्रशस्ति शब्द यशगान के साथ ही साथ नायक-नायिका अथवा देवी पात्र के वन्दन-अभिनन्दन, वैभव एवं सम्पदा के निरूपण, वीरता और कौशल के बखान की बहुविध छवियों की झाँकियाँ दिखाता है । इसी में हीन कुलभाव के साथ लोकोत्तर तत्व की भी चर्चायें होती हैं । वर्णन चाहे जिस प्रकार की हो, वर्णन की पद्धति और परम्परा चाहे कोई हो, वर्ण्य विषय छोटा हो बड़ा हो, आलम्बन नर हो देवता हो, स्त्री हो पुरुष हो, कोई भी हो कुछ भी हो प्रशस्ति में महिमा की स्वीकृति अनिवार्य है ।

हिन्दी के आदिकालीन काव्य में प्रशस्ति का स्वर निश्चित रूप से मुखर है

और यही तत्कालीन काव्य की धारा को दिशा देता है । समूचे काल का काव्य प्रवाह लौकिक और अलौकिक प्रशस्ति के दो तटबन्धों के बीच प्रवाहित होता हुआ मध्यकाल की ओर चला जाता है । आदि काल में प्रशस्ति की इस धारा का उद्रेक कोई अनहोनी बात नहीं थी अपितु पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में काव्य भूमि पर प्रशस्ति की अपार भाव राशि विद्यमान थी । हिन्दी को संस्कृत से जहाँ और तमाम परम्पराएँ दाय के रूप में मिलीं वहीं काव्य में प्रशस्ति की परम्परा भी प्राप्त हुई । परंपरागत संस्कृत काव्य में आचार्यों ने प्रशस्ति काव्य को एक पृथक कोटि को स्वीकार की है जिसमें लोक नायकों और देव कोटि के पात्रों की महिमा का सम्यक् प्रमाण है । तात्पर्य यह है कि संस्कृत के विद्वानों ने लोकनायकों से सम्बद्ध विरुदावली को प्रशस्ति और देव कोटि के पात्रों की विरुदावली को स्तोत्र की संज्ञा प्रदान की है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन उभय धाराओं के सम्मिलित स्वरूप को केवल प्रशस्ति का नाम देकर विवेच्य काल के काव्य के लिए अनुशीलन माना जायगा ।

ऊपर अपनी बात स्पष्ट करते हुए हम कह चुके हैं कि प्रशस्ति अपने मूल भेद में लौकिक और अलौकिक दो प्रकार की है । इन दोनों प्रकार के आलम्बनों का भी संकेत किया जा चुका है, लेकिन किया जाना जरूरी भी था क्योंकि प्रशस्ति के ये दो भेद आलम्बन भेद के ही परिणाम हैं । किन्तु प्रशस्ति के इन दो स्थूल भेदों को लक्ष्य बना कर अनुशीलन के चरम का सम्यक् निर्वाह नहीं किया जा सकता । अतः इनके अन्य अथवा उपभेदों की प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी । ऊपर प्रशस्ति के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए यह बताया जा चुका है कि यशगान, वंशपरम्परा का वर्णन, वीरता की व्यंजना, याचना एवं प्रणति का निवेदन, सम्पदा एवं वैभव का उल्लेख, स्तुति एवं आराधना का स्वर, शरणागत भाव तथा [illegible] और [illegible] प्रशस्ति के अनुशीलन के ठोस और सही आधार हो सकते हैं । विवेच्य कालीन काव्य में प्रशस्ति का स्वरूप निर्धारण इन्हीं स्तम्भों के अन्तर्गत किया जाना है ।

इस विषय का विवेचन करने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि जिस हिन्दी काव्य के आरम्भ काल को इन कोटियों पर परखना है उसके इतिहास का विकास क्रम क्या है । इतना ही नहीं विचारणीय यह भी है कि इस काल के काव्य के वे कौन से प्रेरक तत्व हैं जिनसे प्रभावित होकर तत्कालीन काव्य को अनिवार्यतः प्रशस्ति गर्भित होना पड़ा अर्थात् हिन्दी काव्य के विकास को दिखाते हुए आदिकालीन काव्य की सामा

का निर्धारण करते हुए पुलीन प्रेरक तत्वों के प्रकार में प्रवृत्ति की सम्भावना की अनिवार्यता को परखना होगा । इसीलिए अगले अध्याय में हम इसी मुद्दे की चर्चा का विषय बनायेंगे ।